राजपूत शासन-व्यवस्था

राजपूतों के शासन-काल में सामंतशाही राजतंत्र का प्रायः सम्पूर्ण देश में चलन हो गया। परंतु राज-शक्ति का आधार, प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार प्रधानतः आध्यात्मिक और नैतिक रहा। भारतीय जनता और भारतीय शास्त्रकार राजा को ईश्वर का अंश मानते थे और उनका यह निश्चित मत था कि अभिषेक की धार्मिक क्रियाओं द्वारा नरत्व में देवत्व प्रस्फुटित हो जाता है। उसका स्वाभाविक कर्त्तव्य है जनता के हित में शासन करना और जनता का कर्त्तव्य है उसके प्रति श्रद्धा और भक्ति का प्रदर्शन करना। इस भाँति एक प्रकार से राज-शक्ति का आधार है राजा और प्रजा के बीच का समझौता। प्रजा के प्रतिनिधि ही विभिन्न विधियों द्वारा राजा को अभिषिक्त करके उसे राजपद से विभूषित करते हैं। परंतु सामान्यतः अभिषेक के लिए पिछले राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही चुना जाता था। इससे प्रतीत होता है कि राज-शक्ति की प्राप्ति मूलतः वंश-परम्परा से होती थी; किन्तु प्रजा के समर्थन और धार्मिक कृत्यों के संयोग से वंशानुगत अधिकार को नैतिक और आध्यात्मिक कलेवर प्रदान किया जाता था।

राजशक्ति के मूलाधार

शासन का उद्देश्य केवल जागतिक सुख-शांति की व्यवस्था करने तक ही सीमित नहीं था। हिन्दू आदर्शों के अनुसार, राजा का कर्तव्य था कि वह वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करे, नैतिक वातावरण को प्रोत्साहन दे और व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति में बाधक न हो। साथ ही उसे आंतरिक तथा वाह्य शत्रुओं का दमन करके शांति और व्यवस्था की स्थापना करनी चाहिए ताकि जनता सुखमंय जीवन व्यतीत कर सके। राजपूत शासकों ने अखिल भारतीय चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करके आंतरिक कलह और द्वेष को समाप्त करने का आदर्श भी सामने रखा। परंतु व्यवहार में इस आदर्श के कारण आंतरिक कलह घटने के स्थान पर इतनी बढ़ी कि वह राजपूत शासन का एक अनिवार्य अंग बन गयी। इसका कारण यह था कि राजपूत शासक न तो पराजित राजा के वंश का मूलोच्छेद करते थे और न उसके आंतरिक शासन में ही हस्तक्षेप करते थे। फलतः प्रत्येक कथित चक्रवर्ती सम्राट् के राज्य के भीतर अनेक असंतुष्ट राजवंश बने रहते थे जो अवसर पाते ही स्वतंत्र होने की चेष्टा करते थे। पड़ोसी राज्यों का स्वाभाविक संबंध शत्रुता का रहता था क्योंकि प्रत्येक अपने पड़ोसी को हराकर करद सामंत बनाने का स्वप्न देखा करता था।

शासन के उद्देश्य

Scanned with CamScanner

इस भाँति राजपूत राजतंत्र में सामंतशाही का एक विशिष्ट स्थान था। प्रायः राजपूत शासकों को निरंकुश और स्वेच्छाचारी समझा जाता है। परंतु उनकी निरंकुशता असीम नहीं थी और कुछ दशाओं में उन्हें राजगद्दी से उतारा भी जा सकता था। राजपूत शासक का कर्त्तव्य था कि वह धर्मशास्त्र तथा नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार शासन करे। अस्तु वह स्वेच्छानुसार राजनियमों का निर्माण अथवा संशोधन नहीं कर सकता था। प्रत्येक राज्य में एक मंत्रि-परिषद् भी होती थी जिसमें युवराज और पट्टमहिषी को पदेन स्थान मिलता था। कभी-कभी मंत्रि-परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति विशिष्ट परिवारों से वंशक्रम के अनुसार की जाती थी। उस दशा में उनका प्रभाव बढ़ जाता था और राजा सहसा उनके मत को ठुकरा नहीं सकता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक राज्य में अनेक छोटे-बड़े सामंत रहते थे जिनमें से अधिकांश राजवंश से संबंधित होते थे। स्थानीय तथा केन्द्रीय शासन में इन सामंतों के विशेष अधिकार थे जिनकी उपेक्षा करना किसी भी राजा के लिए संभव नहीं था। इस कारण भी उसकी निरंकुशता सीमित हो जाती थी। इनके अतिरिक्त सर्वत्र ही ग्राम पंचायतें थीं और कहीं-कहीं पर विशेषतः दक्षिण भारत में, जिलों में भी जनता द्वारा निर्वाचित समितियाँ रहती थीं। इन प्रजातांत्रिक संस्थाओं के कारण भी राजा की शक्ति सीमित होती थी। यदि राजा को कोई भयंकर रोग पकड़ ले जिससे वह शासन तथा सैन्य-संचालन का कार्य न कर सके, या यदि वह अत्यंत क्रूर एवं अत्याचारी हो, अथवा वह बार-बार शत्रु-द्वारा पराजित हो जाय तो उसे शासनाधिकार से वञ्चित किया जा सकता था। इससे स्पष्ट है कि राजपूत शासक सामंतशाही समाज का एक ऐसा वंशानुगत अध्यक्ष था जिसको एक ओर देवत्व की प्रतिष्ठा प्राप्त थी और दूसरी ओर पदच्युति का भय था। अस्तु, इस काल में वही व्यक्ति राजा रह सकता था जो शरीर से स्वस्थ एवं बलिष्ठ हो, युद्ध-कार्य में प्रवीण एवं पराक्रमी हो, जिसमें नेतृत्व के गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हों और जिसका आचरण यदि आदर्श न भी हो, तो भी हेय एवं घृणित प्रवृत्तियों से अत्यधिक कलुषित न हो।

शासन का स्वरूप

राजपूतों में उत्तराधिकार का एक निश्चित नियम था। पिता के बाद साधारणतः उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी होता था। यदि वह राजा के जीवन-काल में ही वयस्क हो जाता था तो उसे शासन का अनुभव कराने के लिए मंत्रि-परिषद् में स्थान मिल जाता था और उसे युवराज घोषित कर दिया जाता था। युवराज की हैसियत से उसे विशेष अधिकार मिलते थे और राजा की अनुपस्थिति अथवा बीमारी के समय वही अकेले अथवा पट्टमहिषी के साथ मिल कर शासन-संचालन करता था। उसकी शिक्षा-दीक्षा का बाल्यकाल से ही समुचित प्रबंध किया जाता था और साहित्य, इतिहास, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि का अध्ययन कराया जाता था। साथ ही अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग, हाथी तथा घोड़े पर चढ़ना, शिकार खेलना, कुश्ती लड़ना आदि भी उसकी शिक्षा के अनिवार्य अंग रहते थे। उसे किशोरावस्था से कोई जागीर दे दी जाती थी और उसका प्रबंध करने के सिलसिले में उसमें नेतृत्व के गुणों का विकास हो जाता था। इस भाँति उत्तराधिकारी को अपने भावी पद के योग्य बनाने की ओर यथेष्ट ध्यान दिया जाता था। परंतु कभी-कभी ऐसा भी होता था कि राजा अपनी किसी पत्नी के विशेष प्रभाव के कारण अथवा किसी छोटे राजकुमार के विशेष गुणों के कारण ज्येष्ठ पुत्र के

उत्तराधिकार का नियम

Scanned with CamScanner

स्थान पर किसी अन्य पुत्र को युवराज घोषित कर देता था। ऐसी दशा में कभी-कभी सामंतों में फूट पड़ जाती थी और ज्येष्ठ पुत्र के समर्थकों के कारण गृह-युद्ध आरंभ हो जाते थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि पुत्र अपने पिता के आचरण से असंतुष्ट होकर अथवा महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर उसका वध कर देता था और बलपूर्वक राजगद्दी प्राप्त कर लेता था। परंतु इस प्रकार की घटनायें कम होती थीं। यदि कोई राजा निःसंतान मर जाता था तो वंश-परिपाटी के अनुसार सामंतों में से जो परिवार राजकुल से निकटतम संबंध रखता था उसी का प्रधान व्यक्ति राजा चुन लिया जाता था। अस्तु, राजपूत शासन-व्यवस्था में साधारणतः उत्तराधिकार के प्रश्न पर झगड़ा होने का अधिक अवसर नहीं रहता था।

राजा के कर्त्तव्य

यद्यपि सिद्धांत की दृष्टि से राजा की शक्ति सीमित थी परंतु व्यवहार में वह काफ़ी व्यापक थी। राजा धर्मशास्त्र के नियमों का स्वयं पालन करता था और प्रजा से भी उनका पालन कराता था परंतु वह प्रजा को किसी धर्म-विशेष को मानने के लिए बाध्य नहीं करता था। इस कार्य में वह स्मृतिकारों तथा अपने राज्य के पण्डितों के मत को समुचित महत्व देता था। इन नियमों के अनुकूल एवं अंतर्गत उसे राज-शासन निकालने का अधिकार था। राज्य में कोई विधान-सभा न होने के कारण राजा ही विधेयक शक्ति का सर्वोच्च आश्रय एवं उपभोक्ता होता था। राजा ही सभी सामंतों के अधिकारों को स्वीकृति प्रदान करता था और उनकी जागीरें घटाता-बढ़ाता था। वही मंत्रियों को इच्छानुसार नियुक्त करता एवं पद-च्युत करता था और आवश्यकता पड़ने पर उनकी बैठक कराके उनसे परामर्श करता था परंतु वह उनका मत स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं था, यद्यपि साधारणतः वह उनके मत को सहसा ठुकराता नहीं था। सैनिक तथा प्रशासकीय पदों की उच्चतम नियुक्तियाँ वही करता था। इन पदाधिकारियों का नियंत्रण, स्थानांतरण, पदोन्नति आदि उसी के अधिकार-क्षेत्र में थे। कहीं कहीं पर स्थानीय कर्मचारी वंश-परंपरा से नियुक्त होते थे। वहाँ राजा ही उनको स्वीकृति प्रदान करता था। राजा सम्पूर्ण राज्य का स्वामी समझा जाता था और इस हैसियत से वही जागीरें देने अथवा घटाने-बढ़ाने का अधिकारी था परंतु धीरे-धीरे उसका यह अधिकार सीमित हो जाता था क्योंकि अधिकांश सामंत राजवंश से संबंधित होते थे और उनको जो जागीरें एक बार मिल जाती थीं वे प्रायः बिना विशेष परिवर्तन के उनके वंशजों की बपौती संपत्ति बन जाती थीं। राजा उन जागीरों में तभी हस्तक्षेप कर सकता था जब उसके लिए कोई प्रबल कारण हो अन्यथा संपूर्ण सामंत-वर्ग के विरोध की आशंका रहती थी। राजा ही देश में शांति तथा व्यवस्था रखने के लिए उत्तरदायी था और इस कार्य के लिए वह पुलिस तथा सेना का प्रबंध करता था परंतु सामंतों के अधीनस्थ प्रदेशों में वह प्रायः हस्तक्षेप नहीं करता था। वह न्याय का प्रबंध करता था और प्रायः सर्वोच्च न्यायाधीश का कार्य स्वयं करता था। राजा ही राज-करों को निश्चित करता था और उनकी आय को स्वेच्छा से व्यय करता था। राज्य की आय राजा की व्यक्तिगत आय समझी जाती थी और उसका एक बड़ा अंश राजमहल तथा राज-दर्बार के ऊपर व्यय होता था। प्रायः राजे साहित्य तथा कला में रुचि रखते थे और उनके प्रोत्साहन एवं संवर्द्धन के लिए सहर्ष व्यय करते थे। राजा शिक्षा के प्रचार, कृषि की उन्नति, आवागमन के साधनों में सुधार, व्यापार तथा उद्योग के विकास एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा के लिए भी कुछ उद्योग करता था, परंतु इन दिशाओं में विशेष

Scanned with CamScanner

ध्यान नहीं दिया जाता था और न कोई सुविचारित नीति ही रहती थी। राजा ही वैदेशिक विभाग पर भी नियंत्रण रखता था। परंतु इस दिशा में समुचित उन्नति नहीं की गई थी और प्रायः राजा अपने पड़ोसी को हराकर चक्रवर्ती सम्राट् बनने की इच्छा रखता था। उनके यहाँ जो दूत-संबंध था वह प्रायः विवाह-संबंध और युद्ध एवं संधि के उद्देश्य से ही किया जाता था। राजपूतों के आदर्श के अनुसार कलाकारों, साहित्य-प्रेमियों, व्यापारियों आदि के आने-जाने पर किसी प्रकार की बाधा डालना अनुचित था। अस्तु वे लोग एक राज्य से दूसरे राज्य में आते जाते रहते थे और सर्वत्र उनकी रक्षा का प्रबंध किया जाता था तथा उनकी आवभगत की जाती थी। इसी भाँति राजपूत सैनिक युद्ध-काल में कृषकों, स्त्रियों, बच्चों आदि को भी किसी प्रकार का कष्ट नहीं देते थे। इन नियमों का पालन कराना तथा सेना का प्रबंध करना एवं रण-वाहिनी का नेतृत्व करना भी राजा का एक प्रमुख कर्तव्य था।

मंत्रि-परिषद्

इन सब कामों को अकेले सँभाल सकना किसी भी व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। इसलिए राजपूत राजतंत्र में मंत्रिपरिषद् की अनिवार्य आवश्यकता थी। सभी राज्यों में एक ही प्रकार के पदों की सूची नहीं मिलती। परंतु कुछ पद ऐसे हैं जो प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं। यहाँ पर मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की सूची इसी तुलनात्मक संकलन के आधार पर दी जा रही है। मंत्रि-परिषद् में पट्टमहिषी और युवराज को विशेष सम्मानित पद प्राप्त था। उनके बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति था प्रधान मंत्री जिसे महामात्य अथवा महामंत्रिन कहते थे। वैदेशिक विभाग का अध्यक्ष महा-संधिविग्रहिक होता था। इसी भाँति अर्थ एवं राजकोषों का अध्यक्ष भाण्डागारिक होता था और राजस्व विभाग का कार्य महाक्षपटलिक के अधीन रहता था। सेना के प्रधान को महासेनापति, महाबलाध्यक्ष अथवा महाबलाधिकृत कहते थे। इनके अतिरिक्त राजवैद्य, ज्योतिषी एवं प्रधान पुरोहित भी परिषद् के सदस्य होते थे। कहीं-कहीं पर राजकवि, अंतःपुरिक, महाप्रतिहार (राजमहल एवं राज-दर्बार के प्रबंधक एवं निरीक्षक) और महामुद्राधिकृत (राजमुद्रा रखने वाला) भी मंत्रि-परिषद् के सदस्य होते थे। इन पदाधिकारियों में न्याय-विभाग के अध्यक्ष का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। परंतु पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा का मत है कि उसे विनय-स्थिति-स्थापक कहते थे। इनमें से कुछ पद जैसे पुरोहित, ज्योतिषी, विनय-स्थिति-स्थापक आदि प्रायः ब्राह्मणों को दिये जाते थे। शेष पदों पर राजपूत सामंतों की नियुक्ति होती थी। वैश्यों अथवा शूद्रों को मंत्रि-परिषद् में साधारणतः स्थान नहीं मिलता था। मंत्रि-परिषद् के सदस्य अपने-अपने विभागों का संचालन करने के अतिरिक्त राजा को परामर्श देते थे और सामूहिक रूप से राज्य को सुव्यवस्थित तथा राजा को सुपथ-गामी रखने की चेष्टा करते थे।

केन्द्रीय सरकार के अन्य अंग

राज्य की केन्द्रीय सरकार में राजा और मंत्रि-परिषद् के अतिरिक्त वे प्रधान कर्मचारी सम्मिलित होते थे जो या तो राज-दर्बार अथवा राजमहल में किसी विशेष पद पर नियुक्त थे अथवा जो दूसरे छोटे विभागों का काम देखते थे। सभी विभागों की दैनिक कार्यवाही चलाने के लिए अनेक लेखक तथा छोटे पदाधिकारी रहते थे। परंतु इनका विस्तृत वर्णन प्राप्त नहीं है।

सम्पूर्ण राज्य अनेक प्रदेशों अथवा क्षेत्रों में विभक्त रहता था। इनमें से

Scanned with CamScanner

केन्द्रीय प्रदेश पर राजा का सीधा अधिकार रहता था। इस प्रदेश के प्रबंध के लिए राजा को स्वयं व्यवस्था करनी पड़ती थी। केन्द्र के नीचे की प्रशासकीय इकाई को भुक्ति, मण्डल, अथवा राष्ट्र कहते थे। इनके अधिकारियों को प्रायः राजस्थानीय कहते थे। दक्षिण में, जहाँ प्रांत अथवा जिले को राष्ट्र कहते थे, इसके पदाधिकारी को राष्ट्र-पति कहते थे। इनके नीचे की इकाई को विषय कहते थे और उसके प्रबंध के लिए विषय-पति रखे जाते थे। सबसे नीचे की इकाई ग्राम होते थे। इनमें अपनी पंचायतें होती थीं और एक व्यक्ति जिसे ग्राम-पति, पट्टकिल या ग्रामकूट कहते थे इसका अध्यक्ष होता था। यह व्यक्ति स्थानीय जनता में सर्वाधिक प्रभावशाली होता था और यद्यपि उसे कोई वेतन नहीं मिलता था परंतु उसके पद का काफ़ी महत्व था और उसे बेगार, चुंगी आदि के अधिकार रहते थे। इसी से मिलता-जुलता नगरों का प्रबंध था।

स्थानीय शासन

राज्य का शेष भाग सामंतों में बाँट दिया जाता था और वहाँ के शासन का भार उन्हीं के ऊपर रहता था। वे भी प्रायः उसी पद्धति के अनुसार शासन करते थे जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। राजपूत शासन-व्यवस्था में इन सामंतों का अत्यधिक महत्व है। सामंतों में से अधिकांश राजा के कुल के ही व्यक्ति होते थे परंतु कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जो राजा के परिवार से किसी प्रकार का संबंध नहीं रखते थे। जब कोई स्वतंत्र राजा पराजित हो जाता था और कर देने के लिए बाध्य होता था तब वह भी एक प्रकार का सामंत ही होता था। दूसरे राज्यों से निष्कासित अथवा स्वेच्छा से आने वाले प्रभावशाली व्यक्तियों को भी आश्रय देने पर जागीर दी जाती थी और वे भी राजा के सामंत बन जाते थे। इस भाँति सभी सामंत राजवंश के अथवा उससे विवाह-संबंध द्वारा संयुक्त नहीं होते थे। जो भूमि इन्हें जागीर के रूप में मिलती थी उसमें शांति रखने का दायित्व उन्हीं का था, साधारणतः उनकी जागीर पैतृक संपत्ति के समान पिता के बाद पुत्र के अधिकार में चली जाती थी, परंतु राजद्रोह, युद्धस्थल से पलायन, अत्याचारी शासन आदि अपराधों के होने पर राजा जागीर ज़ब्त कर लेता था और उसे उसी वंश के किसी अन्य व्यक्ति को अथवा अन्य वंश के व्यक्ति को दे देता था या अपने सीधे शासन में ले लेता था। इस भाँति इन जागीरों के आकार में थोड़ा-बहुत परिवर्तन होना संभव था। परंतु सामान्यतः एक जागीर के सामंत को दूसरी जागीर में स्थानांतरित नहीं किया जा सकता था। इस जागीर पाने के उपलक्ष में सामंत राजा को अपना प्रधान मानता था, उसे निश्चित वार्षिक कर देता था, विशेष अवसरों पर उसे भेंट देता था तथा दर्बार में उपस्थित होता था एवं नियत संख्या के अनुसार राजा की आज्ञा मिलने पर युद्ध के लिए सैनिक लेकर आता था। वे स्वतंत्र राजाओं के समान विरुद धारण नहीं कर सकते थे, अपने नाम के सिक्के नहीं चला सकते थे और न राजाज्ञा के बिना किसी अन्य राज्य से संधि अथवा युद्ध कर सकते थे। इस भाँति सामंत राजा के नियंत्रण एवं निरीक्षण में कार्य करते थे। परंतु संगठित रूप से वे राजा के ऊपर दबाव डाल सकते थे। वे राजवंश की परम्परागत मर्यादा की रक्षा करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे और इस आधार पर अत्याचारी, अनाचारी अथवा अयोग्य राजा को राजगद्दी से उतारने तक का प्रयत्न कर सकते थे। राजा की निजी सेना अल्पसंख्यक होती थी। अधिकांश सेना इन्हीं सामंतों द्वारा प्रस्तुत की जाती थी। इस कारण भी राजा बहुत स्वेच्छाचारी नहीं हो पाता था। उस समय का जैसा वातावरण था उसमें सामंतों के

सामंतशाही व्यवस्था

Scanned with CamScanner

लिए सदा राजभक्त बना रहना कठिन था। उनकी रगों में भी राजपूत रक्त प्रवाहित हो रहा था। उनके भी पूर्वपुरुष किसी समय स्वतंत्र शासक रहे थे। स्वतंत्र होने के लिए युद्ध करना कोई अपमानजनक कार्य नहीं था। युद्ध में मर जाना श्रेयस्कर समझा जाता था। इसलिए इन सामंतों के कारण भी राज्यों की सीमा और शक्ति में स्थायित्व नहीं रह पाता था और नये राज्य बराबर बनते-बिगड़ते रहते थे।

सैनिक-व्यवस्था

राजपूतों के लिए युद्ध एक प्रकार का वीरोचित मनोरंजन था। राजपूत सैनिक युद्ध करते-करते मर जाने को सर्वाधिक महत्व देते थे। इसलिए अस्त्र-शस्त्रों के उपयोग तथा युद्ध-कला में विशेष दक्षता प्राप्त करना उनके लिए स्वाभाविक होना चाहिए था। परंतु ऐसा हुआ नहीं। हुआ केवल इतना कि राजपूत सैनिक शरीर को पुष्ट रखने; कुश्ती लड़ने; भाला बर्छी, तीर-तलवार चलाने और घोड़े-हाथी पर चढ़ने में अक्षम नहीं होता था। युद्ध एक आनंदोत्सव होने के कारण उसके ऐसे नियम बने थे जिससे व्यक्तिगत शौर्य तथा साहस को अधिक-से-अधिक महत्व दिया जा सके। इसलिये धर्म-युद्ध करना, शरणागत की रक्षा करना, भगे का पीछा न करना, आन पर मर मिटना आदि आदर्श गुण समझे जाते थे। फलतः उन्होंने वास्तविक युद्ध-कला की बारीकियों की ओर ध्यान ही नहीं दिया था। उनका प्रधान सेनापति एक ही प्रकार की रणपद्धति से परिचित था। इसलिए वह संकट की अवस्था आने पर सेना का ठीक पथ-प्रदर्शन नहीं कर पाता था। राजपूतों के पास गढ़ तोड़ने का सामान भी निम्न श्रेणी का था और महीनों किले का घेरा डाले रहकर उसे जीतने का धैर्य प्रायः उनमें नहीं रहता था। उनकी सेना में पैदल, घुड़सवार तथा हस्तिदल रहते थे। परंतु घुड़सवारों की संख्या कम रहती थी और उनके घोड़े हमेशा अच्छी नस्ल के नहीं होते थे। इन दोषों के अतिरिक्त सबसे बड़ा दोष यह था कि सेना में राष्ट्रीयता का अभाव था। अकसर सैनिक वे होते थे जो किसी की भी अध्यक्षता में, जो उनको वेतन दे सके, लड़ने को तैयार रहते थे। इन किराये के सैनिकों में उस लगन का अभाव था जो स्थायी सेना के सुशिक्षित सैनिकों में होना संभव है। प्रत्येक राज्य की सेना सामंतों द्वारा प्रस्तुत की जाती थी। इसलिए उसमें एकता की भावना बहुत क्षीण रहती थी। सैनिक कार्य प्रधानतः राजपूतों का एकाधिकार बना दिया गया था। इस कारण जैसा कि चिंतामणि विणायक वैद्य ने कहा है समाज के ९० प्रतिशत व्यक्तियों को देश की रक्षा करने में सहयोग देने का अवसर ही नहीं था और परंपरागत अभ्यास के कारण वे प्रत्येक सैनिक विजेता को बिना विरोध किये शासक मानने को प्रस्तुत हो जाते थे। इस प्रवृत्ति के कारण जब तक युद्ध केवल भारतीयों के बीच होते रहे, अशांति कम रही और पड़ोसी राज्यों के युद्धों के कारण अधिक रक्तपात नहीं हुआ। परंतु विदेशी आक्रमण होने के समय इस प्रवृत्ति ने ही तुर्क, अफ़ग़ान, मुग़ल अथवा अँगरेज़ का शासन सुगमता से स्थापित हो जाने दिया।

प्राचीन काल में राजकर प्रायः हल्के रहते थे। इस कारण सामान्य जनता की आर्थिक दशा बहुत अच्छी रहती थी। परंतु राजपूतों के काल में दर्बार और राजमहल का व्यय बढ़ने लगा तथा अनवरत युद्धों के चलते रहने के कारण सैनिक व्यय भी बहुत बढ़ गया। अस्तु यह स्वाभाविक था कि इस काल में राजकरों का भार बढ़ जाय। कुछ विद्वानों का मत है कि इस काल में करों का भार इतना अधिक था कि

Scanned with CamScanner

जनता उससे बहुत त्रस्त थी। परंतु अन्य विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते और कहते हैं कि यद्यपि करों का भार बढ़ गया था तो भी वह इतना नहीं बढ़ा था कि जनता सुखमय जीवन व्यतीत न कर सकती। भूमिकर उपज का १/६ लिया जाता था और २% बिक्री कर तथा तैयारी माल पर शुल्क लिया जाता था। इनके अतिरिक्त कुछ और कर भी लिये जाते थे परंतु वे संभवतः स्थान-विशेष, वर्ग-विशेष अथवा उद्देश्य-विशेष से लिये जाते थे। इन्हीं में एक तुरुष्क दण्ड भी था।

राजकर

उस समय सोने, चाँदी और ताँबें के सिक्कों का चलन था। दीनार सोने का सिक्का था। कार्षपण और कपर्दिक ताँबे के अथवा काँसे के होते थे और द्राम तथा टंक चाँदी के सिक्के होते थे। इन सिक्कों का आकार बहुत आकर्षक नहीं था। इनमें से कुछ धातु को काट लेना सुगम था। इस कारण इनका रूप और भी भद्दा हो जाता था।

सिक्के

यद्यपि हिन्दू शास्त्रों के अनुसार न्याय की समुचित व्यवस्था करना सरकार का एक प्रधान कर्तव्य माना गया है फिर भी राजपूत राज्यों में इस ओर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता था। इसका भी स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि प्रत्येक राज्य में राजा के अतिरिक्त कोई अन्य प्रधान न्यायाधीश था या नहीं। ज़िलों अर्थात् भुक्तियों, मण्डलों आदि में एक दण्डनायक होता था जो शायद जेल, पुलिस, न्याय तीनों का ही प्रबंध देखता था। दण्डनायक के अतिरिक्त किसी कर्मचारी का उल्लेख नहीं मिलता जिसका कार्य प्रधानतः अथवा केवल न्याय करना हो। ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश मामले गाँवों की पंचायतों तथा जाति की पंचायतों द्वारा आपसी ढंग से तै कर लिये जाते थे। कभी-कभी दण्डनायक अथवा राजा के यहाँ भी न्याय की माँग की जाती थी। परंतु शायद इन मुक़दमों का नियमित विवरण नहीं रखा जाता था। इसलिए ऊपर के न्यायालय में भी सारे मामले की सुनवाई पुनः आरंभ से ही आरंभ करना पड़ती थी। चोर-बदमाशों को पकड़ने के लिए विशेष पुलिस का प्रबंध था। फ़ौजदारी के मुक़दमे अधिकतर जूरी की सहायता से किये जाते थे। निर्दोषी प्रमाणित करने के लिए विभिन्न प्रकार की शारीरिक यातनाओं वाली परीक्षाओं का प्रचलन था। जुर्माने से आरंभ करके अंग-भंग तथा मृत्यु तक का दण्ड दिया जाता था। जेलों का प्रबंध अच्छा नहीं था।

न्याय-व्यवस्था

राजपूत शासन में सैनिकवाद, सामंतवाद तथा दैवी राजतंत्रवाद का सम्मिश्रण था। राजाओं का प्रधान लक्ष्य था सामरिक कीर्ति का अर्जन न कि लोकहित-चिंतन। इस कारण जनता में राजाओं के प्रति श्रद्धा रहने पर भी विशेष कृतज्ञता अथवा स्नेह का भाव नहीं रहता था। प्रशासकीय तथा सैनिक पद प्रायः ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों को ही मिलते थे। इसलिए शेष जातियों के लोगों में राजनीति की ओर से उदासीनता आने लगी और वे वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार अपने-अपने विशिष्ट कार्यों में ही तल्लीन हो गये। अनेक राजपूत शासक उच्चकोटि के साहित्यकार, लेखक, कलाविद् धर्मात्मा तथा सदाचारी थे, परंतु अधिक संख्या उनकी थी जो युद्ध से अवकाश पाने पर इंद्रिय-सुखों में लिप्त हो जाते थे, मादक द्रव्यों का उपयोग करते थे, राज्य की आय को मनमाने ढंग से अपव्यय करते थे और जनसाधारण की दशा सुधारने की चिन्ता नहीं करते थे। उन्होंने स्थानीय शासन में हस्तक्षेप न करके

Scanned with CamScanner

स्थानीय लोगों की कार्यपटुता को विकसित होने का अवसर दिया और उनको आत्म निर्भर बनाया। इस गुण के ही कारण भारतीय समाज अपनी

राजपूत शासन की समीक्षा

प्राचीन संस्कृति की रक्षा कर सकने में समर्थ हुआ है और विदेशी आक्रमणकारियों का प्रभाव कभी भी भारतीय आत्मा को विजित करने में पूर्ण सफल नहीं हुआ। राजपूतों ने कला, साहित्य, व्यापार, उद्योग की उन्नति में भी योगदान किया और धार्मिक पक्षपात एवं अत्याचार से प्रायः अछूते रह कर उन्होंने सभी को अपनी अपनी रुचि एवं बुद्धि के अनुसार अध्यात्म-चिन्तन का अवसर दिया। इस कारण समाज में अधिक कटुता नहीं बढ़ी। प्रोफ़ेसर हबीब, मुहम्मद अज़ीज़ अहमद और क़ुरेशी ने राजपूत शासन-व्यवस्था के दोषों को अतिरंजित करके दिखाया है और ऐसा प्रगट किया है जैसे कि भारतीय जनता विदेशी आक्रमणकारी को अपना उद्धारकर्ता समझकर उसके स्वागत के लिए चिर-प्रतीक्षा में बठी थी और उसके आते ही उसने कृतज्ञता-पूर्वक उसका आश्रय ग्रहण कर लिया। ११वीं शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी के अंत तक का जो इतिहास फ़ारसी ग्रंथों में उपलब्ध है उसी से विपुल प्रमाण प्राप्त होते हैं कि यह मत नितान्त भ्रामक है। भारतीय जनता के कुछ व्यक्ति स्वार्थ-बुद्धि से प्रेरित होकर विदेशियों से अवश्य सहयोग करने लगते थे—जैसा कि अन्य देशों तथा समाजों में भी न्यूनाधिक मात्रा में हुआ है—परंतु उन्होंने विदेशी विजेता को सदा सांस्कृतिक स्तर में हेय, धर्मान्धता में घृणित और राजनीतिक क्षेत्र में पराजेय मान कर उसका विरोध किया। विजित और विजेता में सद्भाव की सृष्टि बहुत धीमी गति से हुई और वह प्रायः ऊपरी व्यवहार तक ही सीमित रहा। अधिकांश जनता ने राजनीतिक परिवर्तनों को विशेष महत्व नहीं दिया। जिसे सैनिक शक्ति प्राप्त होती थी उसे कर देने में उसे अनिच्छा नहीं होती थी। शेष बातों के लिए वे अपने ऊपर निर्भर करते थे। यदि नये शासकों ने धार्मिक अत्याचार न किया होता तो उनको भारतीयों का अधिक सहयोग मिलता। परंतु उस दशा में मुसलमानों की संख्या इतनी न बढ़ती।

Scanned with CamScanner